॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

वर्ष तीसरा
अंक आठवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

मगसिर
२४७४

कर्तव्य

जो यह मानता है कि जब देव-गुरु-धर्म पर संकट आये, तब राग-द्वेष करना अनुचित नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। देव-गुरु-धर्म के लिये राग-द्वेष नहीं करना चाहिये। जीव को प्रत्येक समय और प्रत्येक प्रसंग पर वीतरागभाव ही करना चाहिये। रागभाव कदापि कर्तव्य नहीं है। जब संपूर्ण वीतरागभाव न हो सके और देव-गुरु-शास्त्र आदि पर राग-द्वेष हो, तब भी वह कर्तव्य नहीं है। जो राग को किसी भी समय कर्तव्य मानता है, वह अपने वीतरागी ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। जिसने अपने वीतरागी ज्ञानस्वभाव को जान लिया है, वह जीव किसी भी समय-किसी भी परिस्थिति में राग को कर्तव्य नहीं मानता, किन्तु वह यह मानता है कि रागविहीन भाव से सबका ज्ञायक रहना ही एकमात्र कर्तव्य है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, और ज्ञान का स्वभाव सब को मात्र जानना है। जानने में किसी भी प्रकार का राग-द्वेष करना ज्ञान का स्वभाव नहीं है। जो राग होता है, सो ज्ञानस्वभाव से भिन्न है—ऐसा भेदविज्ञान करना धर्मी जीवों का कर्तव्य है—और यह भेदविज्ञान ही धर्म है। जैसे देव-गुरु-धर्म के लिये राग-द्वेष करना उचित नहीं है, इसी प्रकार देश, कुटुम्ब या शरीरादि के लिये राग-द्वेष करना उचित नहीं है, किन्तु ज्ञान और वीतरागभाव ही त्रिकाल में कर्तव्य है।

[अष्टपाहुड़-प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग ३२ दर्शक मासिक पत्र

छुटक अंक पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

स्वतंत्रता और सुख

[१५ वीं अगस्त के सुप्रभात में पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये मंगल-प्रवचन के आधार से]

हे जीवों! यदि तुम अपनी स्वतंत्रता और सुख चाहते हो तो इस मान्यता त्याग करो कि हमारा सुख पराश्रित है, और परवस्तु पर हमारी सत्ता चलती है। 'मेरे सुख का किसी पर के साथ कोई संबंध नहीं है, मैं समस्त पर पदार्थों से पृथक् हूँ, मेरे ज्ञान साम्राज्य में मुझे विघ्न कर्ता कोई नहीं है, और मैं अपने ज्ञान साम्राज्य के द्वारा समस्त पदार्थों को जैसा जानता हूँ, उसी प्रकार उनमें होता है'— इस प्रकार यथार्थ-परिचयपूर्वक पराश्रयभाव का त्याग करके स्वाश्रयभाव में स्थिर होना ही स्वतंत्रता है-यही सुख है।

स्वतंत्रता वह है कि जिसमें अपने सुख के लिये किसी दूसरे के आश्रय की आवश्यकता न रहे, और स्वयं ही स्वाधीनतापूर्वक सुखी हो। तथा अपना स्वाधीन सुख ऐसा हो कि जिसे कोई भी संयोग हानि न पहुँचा सके। ऐसा स्वाधीन सुखरूप तो केवल आत्मस्वभाव ही है। उस स्वाधीनता को कौन प्राप्त कर सकता है? और पराधीनता की गुलामी को कौन मिटा सकता है?

मेरा सुख मेरे आत्मा में है, वह किसी भी संयोग के अधीन नहीं है, मेरा ज्ञान ही स्वयमेव सुख-शान्तिरूप है, इस प्रकार जिन्हें अपने ज्ञानस्वभाव का परिचय न हो, ऐसे अज्ञानी जीव यह मानते हैं कि 'मेरा सुख परवस्तु पर आश्रित है, और पर संयोग अनुकूल हों, तभी मेरा सुख स्थिर रह सकता है!' ऐसे जीव सदा पराश्रयरूप से-संयोगों में से सुख प्राप्त करना चाहते हैं—अर्थात् वे संयोगों के गुलाम हैं; वे स्वाधीन आत्मस्वभाव को न जानने के कारण कदापि स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकते। अपने सुख के लिये पराश्रयता को स्वीकार करना ही सबसे बड़ी पराधीनता है, और उसी का अनंत दुःख है। अज्ञानी जीव अनादि काल से इस पराधीनता का अज्ञानभाव से सेवन करता आया है।

इस पराधीनता के बंधन को कौन काट सकता है?

जीव ने इस पराधीनता को स्वयं अपने स्वभाव को भूलकर विपरीत मान्यता के कारण स्वीकार किया है; इसलिये वह स्वयं ही स्वभाव की यथार्थ पहिचान से उस पराधीनता के बंधन को तोड़ सकता है, उसे पराधीनता के बंधन से मुक्त करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।

ज्ञानियों ने अपने स्वभाव को जाना है; आत्मा का स्वभाव सम्पूर्ण स्वतंत्र, अपने से ही परिपूर्ण सुखरूप है; उसे किसी भी संयोग की अपेक्षा नहीं है—इसप्रकार ज्ञानीजन जानते हैं,

इसलिये वे कभी भी अपने सुख के लिये पराश्रय की आवश्यकता नहीं मानते। इसलिये ऐसे ज्ञानी ही स्वाश्रय स्वभाव की एकाग्रतारूप अहिंसा के बल से पराश्रयरूप-पराधीनता के बंधन को सर्वथा नष्ट करके सम्पूर्ण स्वतंत्र दशा में सिद्ध भगवान रूप बिराजते हैं।

ऐसी परम आत्मस्वतंत्रता जयवन्त रहे! ऐसी परम स्वतंत्रता को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय भेदज्ञान है, इसलिये आत्मा की सच्ची स्वतंत्रता और सुख के इच्छुक सर्व जीवों को इस भेदज्ञान का ही अभ्यास करना चाहिये। जिसे भेदज्ञान नहीं है, वही पराधीन है; और जिन्हें भेदज्ञान है, उनके स्वतंत्रता का प्रारंभ हो चुका है, और वे सम्पूर्ण स्वतंत्रता की साधना करके सिद्धदशा प्रगट करते हैं; यही सच्ची स्वतंत्रता और सुख है।

समयसार-प्रवचन

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसरार मूल और श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीका पर अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजी स्वामी ने विस्तृत प्रवचन किये हैं, जो कि गुजराती भाषा में ४ भागों में मुद्रित हो चुके हैं। हर्ष है कि उनका हिन्दी अनुवाद हो रहा है, और उनमें से प्रथम भाग का मुद्रण भी प्रारंभ हो रहा है।

यद्यपि समयसार प्रवचन करीब १० भागों में समाप्त होगा, किन्तु अभी एक वर्ष में ५ भागों के मुद्रण की योजना बन चुकी है। प्रथम भाग लगभग ६०० पृष्ठ का होगा; जो कि बहुत जल्दी ही प्रगट हो जायगा।

समयसार प्रवचन के यह भाग फुटकल नहीं बेचे जायेंगे, इसलिये यह निर्णय किया गया है कि जो २५/- पेशगी भेजकर अभी से ग्राहक बन जायेंगे उन्हीं को पाँचों भाग क्रमशः भेजे जायेंगे। और पाँचों भाग का जो मूल्य होगा (जो कि लगभग २५ रुपया होगा) उसका हिसाब पाँचवाँ भाग भेजते समय कर लिया जायगा।

समयसारजी के रहस्य के जिज्ञासुओं को तथा मन्दिरों, विद्यालयों, पुस्तकालयों एवं अन्य साहित्यप्रेमी संस्थाओं को शीघ्र ही २५/- पेशगी भेज कर ग्राहक श्रेणी में अपना नाम लिखाना चाहिये।

पता — आत्मधर्म कार्यालय-मोटा आंकड़िया (काठियावाड़)

भेदज्ञान

(श्री समयप्राभृत गाथा २९४
पर पूज्य श्री कानजी स्वामी
के प्रवचन का सार)

भगवतीप्रज्ञा

आत्मा और बंध किसके द्वारा द्विधा किये जाते हैं ? ऐसा पूछने पर उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—

जीव बंध दोनों नियत निज निज लक्षण से छेदे जाते हैं।
प्रज्ञाछैनी द्वारा छेदे जाने पर दोनों भिन्न भिन्न हो जाते हैं ॥२९४॥

जीव और बंध भाव को भिन्न करना आत्मा का कार्य है और उसे करनेवाला आत्मा है। मोक्ष, आत्मा की पवित्र दशा है और उस दशारूप होनेवाला आत्मा है। परंतु उसरूप होने का साधन क्या है, उसका उपाय क्या है ? उसके उत्तर में कहते हैं कि उस भगवतीप्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा के स्वभाव को और बंधभाव को पृथक् जानकर छेदे जाने पर मोक्ष होता है। आत्मा का स्वभाव बंधन से रहित है, इसप्रकार जाननेवाला सम्यक्ज्ञान ही बन्ध और आत्मा को पृथक् करने का साधन है। यहाँ (भगवती) विशेषण के द्वारा आचार्यदेव ने उस सम्यक्ज्ञान की महिमा बताई है।

चेतक-चेत्यभाव

आत्मा और बंध के निश्चित लक्षण भिन्न हैं, उनके द्वारा उन्हें भिन्न-भिन्न जानना चाहिये। आत्मा और बंध में चेतक-चेत्य संबंध है, अर्थात् आत्मा जाननेवाला चेतक है और बंधभाव उसके ज्ञान में मालूम होता है, इसलिये वह चेत्य है। बंधभाव में चेतकता नहीं है और चेतकता में बंधभाव नहीं है। बंधभाव स्वयं कुछ नहीं जानते किन्तु आत्मा अपने चेतकस्वभाव के द्वारा जानता है। आत्मा का चेतकस्वभाव होने से और बंधभावों का चेत्यस्वभाव होने से आत्मा के ज्ञान में बंधभाव मालूम तो होता है, किन्तु वहाँ बंधभाव को जानने पर अज्ञानी को भेदज्ञान के अभाव के कारण ज्ञान और बंधभाव एक से प्रतिभासित होते हैं। चेतक-चेत्यभाव के कारण उनमें अत्यंत निकटता होने पर भी दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। (अत्यंत निकट) कहते ही भिन्नता आ जाती है।

चेतक-चेत्यपने के कारण अत्यंत निकटता होने से आत्मा और बंध के भेदज्ञान के अभाव के कारण उनमें एकत्व का व्यवहार किया जाता है, परंतु भेदज्ञान के द्वारा उन दोनों की भिन्नता स्पष्ट जानी जाती है। पर्याय में देखने पर बंध और ज्ञान एक ही साथ हों, ऐसा दिखाई देता है, लेकिन द्रव्य

–स्वभाव से देखने पर बंध और ज्ञान भिन्न–भिन्न दिखाई देते हैं। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है और बंध बाहर जानेवाली विकारी भावना है।

बंधभाव और ज्ञान की भिन्नता

बंधभाव आत्मा की अवस्था में होता है, वह कहीं पर में नहीं होता। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि बंधभाव की लगन आत्मा के स्वभाव के साथ मानों एकमेक हो रही है। अंतरंग स्वरूप क्या है और बाहर होनेवाली लगन क्या है–इसके सूक्ष्म भेद के अभान के कारण ज्ञान के मंथन में वह लगन मानों एकमेक हो रही है—ऐसा अज्ञानी को दीखता है और इसीलिये बंधभाव से भिन्न ज्ञान अनुभव में नहीं आता तथा बंध का छेद नहीं होता। यदि बंध और ज्ञान को भिन्न जाने तो ज्ञान की एकाग्रता के द्वारा बंधन का छेद कर सकता है।

राग अनेक प्रकार का है और स्वभाव एक प्रकार का है। प्रज्ञा के द्वारा समस्त प्रकार के राग से आत्मा को भिन्न करना, सो मोक्ष का उपाय है।

यहाँ यह कहा गया है कि राग और आत्मा भिन्न हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि आत्मा यहाँ है और राग उससे दस फूट दूर है; और इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से भिन्नता नहीं है, परंतु वास्तव में भाव से भिन्नता है। रागादिक बंधभाव, आत्मा के ऊपर ही ऊपर रहते हैं, भीतर प्रवेश नहीं करते। अर्थात् क्षणिक राग भाव के होने पर भी वह त्रिकालस्वभाव, रागरूप नहीं है, इसलिये यह कहा है कि विकार, स्वभाव के ऊपर ही ऊपर रहता है। विकार और स्वभाव को भिन्न जानने से ही मोक्ष होता है और उसके लिये प्रज्ञा ही साधन है। प्रज्ञा का अर्थ है सम्यक्ज्ञान।

प्रज्ञाछैनी

समयसार–स्तुति में भी कहा है कि प्रज्ञारूपी छैनी उदय की संधि की छेदक होती है। ज्ञान का अर्थ है आत्मा का स्वभाव और उदय का अर्थ है बंधभाव। स्वभाव और बंधभाव की समस्त संधियों को छेदने के लिये आत्मा की प्रज्ञारूपी छैनी ही साधन है। ज्ञान और राग दोनों एक पर्याय में वर्तमान होने पर भी दोनों के लक्षण कभी एक नहीं हुए, दोनों अपने अपने निज लक्षणों से भिन्न–भिन्न हैं–इस प्रकार लक्षण भेद के द्वारा उन्हें भिन्न जानकर, उनकी सूक्ष्म अंतर संधि में प्रज्ञारूपी छैनी के प्रहार से वह अवश्य पृथक् हो जाते हैं।

जैसे पत्थर की संधि को लक्ष्य में लेकर उस संधि में सुरंग लगाने से शीघ्र ही बड़े भारी धमाके के साथ टुकड़े हो जाते हैं; उसी प्रकार यहाँ पर सम्यक्ज्ञानरूपी सुरंग है तथा आत्मा और

बंध के बीच की सूक्ष्म संधि को लक्ष्य में लेकर सावधानी के साथ उसमें वह सुरंग लगानी है, ऐसा करने से आत्मा और बंध पृथक् हो जाते हैं।

यहाँ सावधानी के साथ सुरंग लगाने की बात कही है अर्थात् चाहे जैसा राग हो, वह सब मेरे ज्ञान से भिन्न है, ज्ञानस्वभाव के द्वारा मैं राग का ज्ञाता ही हूँ, कर्ता नहीं, इस प्रकार सब तरफ से भिन्नत्व जान कर अर्थात् मोह का अभाव करके ज्ञान आत्मा में एकाग्र करना चाहिये।

यहाँ पर प्रज्ञारूपी छैनी के प्रहार का अर्थ उसे हाथ में पकड़कर मारना, ऐसा नहीं है। प्रज्ञा और आत्मा कहीं भिन्न नहीं है। तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान को आत्मा के स्वभाव में एकाग्र करने पर राग का लक्ष्य छूट जाता है, यही प्रज्ञारूपी छैनी का प्रहार है।

सूक्ष्म अंतर संधि में प्रहार का अर्थ यह है कि शरीर इत्यादि परद्रव्य तो भिन्न ही हैं, कर्म इत्यादि भी भिन्न ही हैं, परन्तु पर्याय में जो रागद्वेष होता है, वह स्थूलरूप से आत्मा के साथ एक जैसा दिखाई देता है, परन्तु उस स्थूलदृष्टि को छोड़कर सूक्ष्मरूप से देखने पर आत्मा के स्वभाव और राग में जो सूक्ष्म भेद है, वह ज्ञात होता है। स्वभावदृष्टि से ही राग और आत्मा भिन्न मालूम होते हैं, इसलिये सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के द्वारा ज्ञान और राग का भिन्नत्व जानकर, ज्ञान में एकाग्र होने पर राग दूर हो जाता है। अर्थात् मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार सम्यक्ज्ञानरूपी प्रज्ञाछैनी ही मोक्ष का उपाय है।

ज्ञान ही मोक्ष का साधन है

त्रैकालिक ज्ञातास्वभाव और वर्तमान विकार के बीच सूक्ष्म अंतर संधि जानकर आत्मा की और बंध की अंतर संधि को तोड़ने के लिये ही कहा है। आत्मा को बंधनभाव से भिन्न करना न आये तो आत्मा को क्या लाभ है ? जिसने आत्मा और बंध के बीच के भेद को नहीं जाना, वह अज्ञान के कारण बंधभावों को मोक्ष का कारण मानता है और बंधभावों का आदर करके संसार को बढ़ाता रहता है, इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य जीव! एक प्रज्ञारूपी छैनी ही मोक्ष का साधन है। इस भगवती प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव, मोक्ष के साधन नहीं हैं।

ध्यान करने पर पहले चैतन्य की और का विकल्प उठता है, वह निर्विकल्प ध्यान का साधन है–यह बात भी यथार्थ नहीं है। विकल्प तो बंधभाव है और निर्विकल्पता शुद्धभाव है। पहले अनिहत वृत्ति से (बिना भावना या बिना इच्छा के) विकल्प आते हैं किन्तु प्रज्ञारूपी पैनी छैनी उस विकल्प को मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार नहीं करती, किन्तु उसे बंधमार्ग के रूप में

जानकर छोड़ देती है। इस प्रकार विकल्प को छोड़कर ज्ञान रह जाता है। ऐसे विकल्प को भी जान लेनेवाला ज्ञान ही मोक्ष का साधन है परन्तु कोई विकल्प उस मोक्ष का साधन नहीं है। जो शुभविकल्पों को मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, उनके भगवती प्रज्ञा प्रगट नहीं हुई हैं; इसीलिये वे बंधभाव और मोक्ष-भाव को भिन्न-भिन्न नहीं पहचानते और वे अज्ञान के कारण बंधभाव को ही आत्मा के रूप में अंगीकार करके निरंतर बद्ध होते रहते हैं। उधर ज्ञानी को आत्मा और बंधभाव का स्पष्ट भेदज्ञान होता है, इसलिये मोक्षमार्ग के बीच में आनेवाले बंधभावों को बंध के रूप में नि:शंकतया जानकर उसे छोड़ते जाते हैं और ज्ञान में एकाग्र हो जाते हैं, इसलिये ज्ञानी प्रतिक्षण बंधभावों से मुक्त होते हैं।

भेदविज्ञान की महिमा

यहाँ तो भेदविज्ञान की ही प्रमुखता है। भेदज्ञान की अपार महिमा है। पहले एक सौ इकतीसवें श्लोक में भेदज्ञान की महिमा को बताते हुए कहा है कि :—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१३१॥

अर्थ—जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं, और जो बद्ध हुए हैं, वे सब उसी भेदविज्ञान के ही अभाव से ही हुए हैं।

भावार्थ—अनादिकाल से लेकर जब तक जीव के भेदविज्ञान नहीं होता, वहाँ तक वह बँधता ही रहता है-संसार में परिभ्रमण करता ही रहता है। जिस जीव को भेदविज्ञान हो जाता है, वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है-मोक्ष को अवश्य प्राप्त करता है। इसलिये कर्मबंध का-संसार का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का प्रथम कारण भेदविज्ञान ही है। बिना भेदविज्ञान के कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मा और बंधभाव में भेद

आत्मा के समस्त गुणों में और समस्त क्रमवर्ती पर्यायों में चेतना व्याप्त होकर रहती है; इसलिये चेतना ही आत्मा है। क्रमवर्ती पर्याय के कहने से उसमें रागादि विकार नहीं लेना चाहिये किन्तु शुद्ध पर्याय ही लेनी चाहिये; क्योंकि राग समस्त पर्यायों में व्याप्त होकर प्रवृत्त नहीं होता। बिना राग की पर्याय तो हो सकती है, परन्तु बिना चेतना की कोई पर्याय नहीं हो सकती; चेतना प्रत्येक पर्याय में अवश्य होती है। इसलिये जो राग है, सो आत्मा नहीं है किन्तु चेतना ही आत्मा है।

बंधभावों की ओर न जाकर अंतर स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो चैतन्य के साथ एकमेक हो जाती हैं, वे निर्मल पर्यायें ही आत्मा हैं। इस प्रकार निर्मल पर्यायों को आत्मा के साथ अभेद करके उसी को आत्मा कहा है और विकारभाव को बंधभाव कहकर उसे आत्मा से अलग कर दिया है। यह भेदविज्ञान है।

बंधरहित अपने शुद्धस्वरूप को जाने बिना बंधभाव को भी यथार्थतया नहीं जाना जा सकता। पुण्य-पाप दोनों विकार हैं, वे आत्मा नहीं है; चैतन्यस्वभाव ही आत्मा है। जितने दया-दान, भक्ति इत्यादि के शुभभाव हैं, उनका आत्मा के साथ कोई मेल नहीं खाता किन्तु बंध के साथ उनका मेल है।

प्रश्न—जबकि पुण्य, आत्मा नहीं है, तब फिर परजीव की दया क्यों करना चाहिये ?

उत्तर—अरे भाई! कोई आत्मा, परजीवों की दया का पालन कर ही नहीं सकता, क्योंकि अन्य जीव को मारने अथवा बचाने की क्रिया आत्मा की कदापि नहीं है; आत्मा तो मात्र उसके प्रति दया के शुभभाव कर सकता है; ऐसी स्थिति में यदि शुभ दया भाव को अपना स्वरूप माने तो उसे मिथ्यात्व का महापाप लगेगा। शुभ अथवा अशुभ कोई भी भाव आत्मकल्याण में किंचित्मात्र सहायक नहीं है क्योंकि वे भाव आत्मा के स्वभाव से विपरीत लक्षणवाले हैं। पुण्य-पाप भाव अनात्मा हैं।

ज्ञान का कार्य

साधकदशा में राग होता है, तथापि ज्ञान उससे भिन्न है। राग के समय राग को राग के रूप में जाननेवाला ज्ञान, राग से भिन्न रहता है। यदि ज्ञान और राग एकमेक हो जायें तो राग को राग के रूप में नहीं जाना जा सकता। राग को जाननेवाला ज्ञान, आत्मा के साथ एकता करता है और राग के साथ अनेकता (भिन्नता) करता है। ज्ञान की ऐसी शक्ति है कि वह राग को भी जानता है। ज्ञान में जो राग ज्ञात होता है, वह तो ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक शक्ति का विकास है, परन्तु अज्ञानी को अपने स्वतत्त्व की श्रद्धा नहीं होती, इसलिये वह राग को और ज्ञान को पृथक् नहीं कर सकता और इसीलिये वह राग को अपना ही स्वरूप मानता है, यही स्वतत्त्व का विरोध है। भेदज्ञान के होते ही ज्ञान और राग भिन्न मालूम होते हैं, इसलिये भेदविज्ञानी जीव, ज्ञान को अपने रूप में अंगीकार करता है और राग को बंधरूप जानकर छोड़ देता है। यह भेदज्ञान की ही महिमा है।

राग के समय मैं रागरूप ही हो गया हूँ—ऐसा मानना, सो एकान्त है, परन्तु राग के समय भी

मैं तो ज्ञानरूप ही हूँ, मैं कभी रागरूप होता ही नहीं–इसप्रकार भिन्नत्व की प्रतीति करना सो अनेकान्त है। राग को जानते हुए ज्ञान यह जानता है कि 'यह राग है' परन्तु ज्ञान यों नहीं जानता कि 'यह राग मैं हूँ' क्योंकि ज्ञान अपना कार्य राग से भिन्न रहकर करता है। दृष्टि का बल ज्ञानस्वभाव की ओर जाना चाहिये, उसकी जगह राग की ओर जाता है, यही अज्ञान है। जिसका प्रभाव ज्ञान की ओर जाता है, वह राग को नि:शंकरूप से जानता है किन्तु उसे ज्ञानस्वभाव में कोई शंका नहीं होती। और जिसका प्रभाव ज्ञान की ओर नहीं है, उसे राग को जानने पर भ्रम हो जाता है कि यह राग क्यों? लेकिन भाई! तेरी दृष्टि ज्ञान से हटकर राग पर क्यों जाती है? जो यह राग मालूम होता है, सो तो ज्ञान की जानने की जो शक्ति विकसित हुई है, वही मालूम होती है; इस प्रकार ज्ञान और राग को पृथक् करके अपने ज्ञान पर भार दे, यही मुक्ति का उपाय है; ज्ञान पर भार देने से ज्ञान सम्पूर्ण विकसित हो जायगा और राग सर्वथा नष्ट हो जायगा–जिससे मुक्ति मिलेगी। भेदज्ञान का ही यह फल है।

राग के समय जिसने यह जाना कि 'जो यह राग मालूम होता है, वह मेरी ज्ञानशक्ति है, राग की शक्ति नहीं है और इस प्रकार जिसने भिन्नरूप में प्रतीति कर ली है, उसके मात्र ज्ञातृत्व रह जाता है और ज्ञातृत्व के बल से समस्त विकार का कर्तृत्व भाव उड़ जाता है।

ज्ञान की शक्ति; चारित्र का साधन

यदि कोई ऐसा माने कि महाव्रत के शुभ विकल्प से चारित्रदशा प्रगट होती है तो वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि व्रत का विकल्प तो राग है, इसलिये वह बंध का लक्षण है और चारित्र आत्मा है। जो शुभराग को चारित्र का साधन मानता है, वह बंध को और आत्मा को एक मानता है तथा उन्हें पृथक् नहीं समझता; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है, वह रागरहित आत्मा की ज्ञानशक्ति को नहीं पहचानता। जब व्रत का शुभविकल्प उठा, तब उस समय आत्मा के ज्ञान की पर्याय की शक्ति ही ऐसी विकसित हुई है कि वह ज्ञान आत्मा के स्वभाव को भी जानता है और विकल्प को भी जानता है। उस पर्याय में विकल्प का ही ज्ञान होता है, दूसरा कदापि नहीं होता, परन्तु वहाँ जो विकल्प है वह चारित्र का साधन नहीं किन्तु जो ज्ञान शक्ति विकसित हुई है, वह ज्ञान ही स्वयं चारित्र का साधन है। तेरी ज्ञायक पर्याय ही तेरी शुद्धता का साधन है और जो व्रत का राग है, सो वह तेरी ज्ञायक पर्याय का उस समय का ज्ञेय है। यह बात नहीं है कि महाव्रत का विकल्प उठा है, इसलिये चारित्र प्रगट हुआ है, परन्तु ज्ञान उस वृत्ति को और स्वभाव को दोनों को भिन्न जानकर स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है, इसीलिये चारित्र प्रगट हुआ है। वृत्ति तो बंधभाव है और मैं ज्ञायक

हूँ, इस प्रकार ज्ञायक भाव की दृढ़ता के बल से वृत्ति को तोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में लीन होता है और क्षपकश्रेणी को माँडकर केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि प्रज्ञारूपी छैनी ही मोक्ष का साधन है।

ज्ञान, विकार का नाशक है

ज्ञान में जो विकार मालूम होता है, वह तो ज्ञान की पर्याय की शक्ति ही ऐसी विकसित हुई है-यों कहकर ज्ञान और विकार के बीच भेद किया है; उसकी जगह कोई यह मान बैठे कि—''भले विकार हुआ करे, आखिर वह है तो ज्ञान का ज्ञेय ही न ?'' तो समझना चाहिये कि वह ज्ञान के स्वरूप को ही नहीं जानता। भाई! जिसके पुरुषार्थ का प्रवाह ज्ञान के प्रति बह रहा है, उसके पुरुषार्थ का प्रवाह विकार की ओर से रुक जाता है और उसके प्रतिक्षण विकार का नाश होता रहता है। साधकदशा में जो जो विकारभाव उत्पन्न होते हैं, वे ज्ञान में ज्ञात होकर छूट जाते हैं-उनका अस्तित्व नहीं रहता। इस प्रकार क्रमबद्ध प्रत्येक पर्याय में ज्ञान का झुकाव स्वभाव की ओर होता जाता है और विकार से छूटता जाता है। ''विकार भले हो'' यह भावना मिथ्यादृष्टि की ही है। ज्ञानी तो जानता है कि कोई विकार मेरा स्वरूप नहीं है। इसलिये वह ज्ञान की ही भावना करता है और इसीलिये विकार की ओर से उसका पुरुषार्थ हट जाता है। ज्ञान के अस्तित्व में विकार का नास्तित्व है।

पहले रागादिक पहचाना नहीं जाता था और अब ज्ञान, सूक्ष्म रागादिक भी जान लेता है क्योंकि ज्ञान की शक्ति विकसित हो गई है। ज्ञान, सूक्ष्म विकल्प को भी बंधभाव के रूप में जान लेता है; इसमें राग की शक्ति नहीं किन्तु ज्ञान की ही शक्ति है। ऐसे स्वाश्रय ज्ञान की प्रतीति, रुचि, श्रद्धा और स्थिरता के अतिरिक्त अन्य सब उपाय आत्महित के लिये व्यर्थ हैं। अपने परिपूर्ण स्वाधीन स्वतत्त्व की शक्ति की प्रतीति के बिना जीव अपनी स्वाधीन दशा कहाँ से लायेगा ? निज की प्रतीतिवाला निज की ओर झुकेगा और मुक्ति प्राप्त करेगा; जिसे निज की प्रतीति नहीं है, वह विकार की और झुकेगा और संसार में परिभ्रमण करेगा।

ज्ञान चेतनस्वरूप है अर्थात् वह सदा चैतन्य-जागृत रहता है। जो वृत्ति आती है, उसे ज्ञान के द्वारा पकड़कर तत्काल छिन्न-भिन्न कर देता है और प्रत्येक पर्याय में ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है। जो एक भी वृत्ति को कदापि मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार नहीं करता—ऐसा भेदज्ञान, वृत्तियों को तोड़ता हुआ, स्वरूप की एकाग्रता को बढ़ाता हुआ, मोक्षमार्ग को पूर्ण करके मोक्षरूप परिणमित हो

जाता है ऐसे परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की शक्ति का बल जिसे प्रतीति में जम गया, उसे अल्पकाल में मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है। मोक्ष का मूल भेदविज्ञान है। राग को जानकर राग से भिन्न रहनेवाला ज्ञान, मोक्ष प्राप्त करता है और राग को जानकर भी राग में अटक जानेवाला ज्ञान, बंध को प्राप्त करता है।

ज्ञानी के प्रज्ञारूपी छैनी का बल यह होता है कि यह भावनायें तो प्रतिक्षण चली जा रही हैं और उपरोक्त भावनाओं से रहित मेरा ज्ञान बढ़ता ही जाता है। अज्ञानी के मन में ऐसे विचार उठते हैं कि–अरे, मेरे ज्ञान में यह भावना उत्पन्न हुई है और भावना के साथ मेरा ज्ञान भी चला जा रहा है। अज्ञानी के ज्ञान और राग के बीच अभेदबुद्धि (एकत्वबुद्धि) है जो कि मिथ्याज्ञान है। ज्ञानी ने प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा राग और ज्ञान को पृथक् करके पहिचाना है, जो कि सम्यक्ज्ञान है। ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है और ज्ञान ही मोक्ष है। जो सम्यक्ज्ञान साधकदशा के रूप में था, वही सम्यक्ज्ञान बढ़कर साध्यदशारूप हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान ही साधक–साध्य है। आत्मा का अपने मोक्ष के लिये अपने गुण के साथ संबंध होता है या परद्रव्यों के साथ? आत्मा का अपने ज्ञान के साथ ही संबंध है, परद्रव्य के साथ आत्मा के मोक्ष का संबंध नहीं है। आत्मा पर से तो पृथक् है ही किन्तु यहाँ अंतरंग में यह भेदज्ञान कराते हैं कि वह विकार से भी पृथक् है। विकार और आत्मा में भेद कर देना ही विकार के नाश का उपाय है। राग की क्रिया मेरे स्वभाव में नहीं है, इस प्रकार सम्यक्ज्ञान के द्वारा जहाँ स्वभाव शक्ति को स्वीकार किया कि विकार का ज्ञाता हो गया। जैसे बिजली के गिरने से पर्वत फट जाता है; उसी प्रकार प्रज्ञारूपी छैनी के गिरने से स्वभाव और विकार के बीच दरार पड़ जाती है तथा ज्ञान स्वोन्मुख हो जाता है और जो अनादिकालीन विपरीत परिणमन था, वह रुककर अब स्वभाव की ओर परिणमन प्रारंभ हो जाता है। इसमें स्वभाव का अनंत पुरुषार्थ है।

मंद कषाय भी बंधभाव है

अज्ञानी को राग–द्वेष के समय ज्ञान अलग नहीं दिखाई देता, इसलिये वह आत्मा और बंध के बीच भेद नहीं समझता। आत्मा और बंध के बीच भेद को जाने बिना द्रव्यलिंगी साधु होकर नवमें ग्रैवेयक तक जाने योग चारित्र का पालन किया और इतनी मंदकषाय कर ली कि यदि कोई उसे जला डाले तो भी बाह्य क्रोध न करे, छह–छह महीने तक आहार न करे, तथापि भेदज्ञान के बिना अनंत संसार में ही परिभ्रमण करता है। उसने आत्मा का कोई भला नहीं किया किन्तु वह मात्र बंधभाव के प्रकार को ही बदलता रहता है।

प्रश्न—इतना सब करने पर भी कुछ नहीं होता ?

उत्तर—जिसे ऐसा लगता है कि 'इतना सब किया' उसके मिथ्यात्व की प्रबलता है। जो बाहर से शरीर की क्रिया इत्यादि को ऊपरी दृष्टि से देखता है, उसे ऐसा लगता है कि 'इतना सब तो किया है'; किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि उसने कुछ भी अपूर्व नहीं किया, मात्र बंधभाव ही किया है। शरीर की क्रिया का और शुभराग का अहंकार किया है। यदि व्यवहारदृष्टि से कहा जाय तो उसने पुण्यभाव किया है और परमार्थ से देखा जाय तो पाप ही किया है। राग अथवा विकल्प से आत्मा को लाभ मानना, सो महा मिथ्यात्व है; उसे भगवान ने पाप ही कहा है। वह एक प्रकार के बंधभाव को छोड़कर दूसरे प्रकार का बंधभाव करता है, परन्तु जब तक बंधभाव की दृष्टि को छोड़कर अबंध आत्मस्वभाव को नहीं पहिचान लेता, तब तक उसने आत्मदृष्टि से कुछ नहीं किया। वास्तव में तो बंधभाव का प्रकार ही नहीं बदला; क्योंकि उसने समस्त बंधभावों का मूल जो मिथ्यात्व है, उसे दूर नहीं किया है।

बाह्य त्यागी किन्तु अंतर अज्ञानी अधर्मी है

अज्ञानी स्वयं खाने-पीने का, वस्त्र का और रुपये-पैसे इत्यादि का राग नहीं छोड़ सकता; इसलिये वह किसी अन्य अज्ञानी के बाह्य में अन्न, वस्त्र और रुपये-पैसे इत्यादि का त्याग देखता है तो वह यह मान बैठता है कि, 'उसने बहुत कुछ किया है और वह मेरी अपेक्षा उच्च है।' किन्तु वह जीव भी बाहर से त्यागी होने पर भी, अंतरंग में अज्ञान के महापाप का सेवन कर रहा है, वह भी उसी की जाति का है। जो अंतरंग की पहिचान किये बिना बाहर से ही अनुमान करता है, वह सत्य तक नहीं पहुँच सकता।

बाह्य अत्यागी किन्तु अंतर्ज्ञानी धर्मात्मा है

ऊपर जो त्यागी अज्ञानी का दृष्टान्त दिया है, अत्यागी ज्ञानी के संबंध में उससे उल्टा समझना चाहिये। ज्ञानी गृहस्थदशा में हो और उसके राग भी हो, तथापि उसके अंतरंग में सर्व परद्रव्यों के प्रति उदासीनभाव रहता है; और वह राग का भी स्वामित्व नहीं मानता, वह धर्मात्मा है। जो ऐसे धर्मात्मा को आंतरिक चिह्नों के द्वारा नहीं पहिचानता और बाहर से माप करता है, वह वास्तव में आत्मा को नहीं समझता। जो अंतरंग में आत्मा की पवित्रदशा को नहीं समझते, वे मात्र जड़ के संयोग से ही माप निकालते हैं। धर्मी और अधर्मी का माप संयोग से नहीं होता, इतना ही नहीं किन्तु राग की मंदता से भी धर्मी और अधर्मी का माप नहीं होता। धर्मी और अधर्मी का माप तो अंतरंग अभिप्राय से निकाला जाता है।

बाह्य त्यागी और मंद रागी होने पर भी जो बंधभाव को अपना स्वरूप मानता है, वह अधर्मी है और बाह्य में राजपाट का संयोग हो तथा राग विशेष दूर न हुआ हो, तथापि जिसे अंतरंग में बंधभाव से भिन्न अपने स्वरूप की प्रतीति हो, वह धर्मी है। जो शरीर की क्रिया से, बाहर के त्याग से अथवा राग की मंदता से आत्मा की महत्ता मानता है, वह शरीर से भिन्न, संयोग से रहित और विकार रहित आत्मस्वभाव की हत्या करता है; वह महापापी है। स्वभाव की हिंसा का पाप सबसे बड़ा पाप है।

बाहर का बहुत-सा त्याग और बहुत-सा शुभराग करके अज्ञानी लोक यह मान बैठते हैं कि इससे हम मुक्त हो जायेंगे; किन्तु हे भाई! तुमने आत्मा के धर्म का मार्ग ही अभी नहीं जान पाया, तब फिर मुक्ति तो कहाँ मिलेगी? अंतरंग स्वभाव का ज्ञान हुए बिना आंतरिक शांति नहीं मिल सकती और विकारभाव की आकुलता दूर नहीं हो सकती।

सम्यक्ज्ञान ही सरल मार्ग है

आत्मा के स्वभाव को समझने का मार्ग सीधा और सरल है। यदि यथार्थ मार्ग को जानकर उस पर धीरे-धीरे चलने लगे तो भी पंथ कटने लगे, परन्तु यदि मार्ग को जाने बिना ही आँखों पर पट्टी बाँधकर तेली के बैल की तरह चाहे जितना चलता रहे तो भी वह घुम-घामकर वहीं का वहीं बना रहेगा। इसी प्रकार स्वभाव का सरल मार्ग है, उसे जाने बिना ज्ञान नेत्रों को बंद करके चाहे जितना उलटा-टेड़ा करता रहे और यह माने कि मैंने बहुत कुछ किया है परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तूने कुछ नहीं किया, तू संसार का संसार में ही स्थित है, तू किंचित्मात्र भी आगे नहीं बढ़ सका। तूने अपने निर्विकार ज्ञानस्वरूप को नहीं जाना, इसलिये तू अपनी गाड़ी को दौड़ाकर अधिक से अधिक अशुभ में से खींचकर शुभ में ले जाता है और उसी को धर्म मान लेता है, परन्तु इससे तो तू घुम घामकर पुनः वही का वहीं विकार में ही आ जमता है। विकार चक्र में चक्कर मारकर यदि विकार से छूटकर ज्ञान में नहीं आया तो तूने क्या किया? कुछ भी नहीं।

ज्ञान के बिना चाहे जितना राग कम करे अथवा त्याग करे किन्तु यथार्थ समझ के बिना उसे सम्यक्दर्शन नहीं होता और वह मुक्तिमार्ग की और कदापि नहीं जा सकेगा; प्रत्युत वह विकार में और जड़ की क्रिया में कर्तृत्व का अहंकार करके संसारमार्ग में और दुर्गति में फंसता चला जायेगा। यथार्थ ज्ञान के बिना किसी भी प्रकार आत्मा की मुक्तदशा का मार्ग दिखाई नहीं दे सकता। जिनने आत्मप्रतीति की है, वे त्याग अथवा व्रत किये बिना ही एकावतारी हो गये हैं।

संसार का मूल

कोई यह पूछ सकता है कि आत्मा के स्वभाव का मार्ग सरल होने पर भी समझ में क्यों नहीं आता? इसका कारण यह है कि अज्ञानी को अनादि काल से आत्मा और राग के एकत्व का व्यामोह है, भ्रम है, पागलपन है। जिसे अंतरंग में रागरहित स्वभाव की दृष्टि का बल प्राप्त है, वह आत्मानुभव की यथार्थ प्रतीति के कारण एक भव में ही मोक्ष को प्राप्त कर लेगा और जिसे आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं है, ऐसा अज्ञानी छह-छह महीने का तप करके मर जाय तो भी आत्म-प्रतीति के बिना उसका एक भी भव कम नहीं होगा, क्योंकि उसे आत्मा और राग के एकत्व का व्यामोह है; और वह व्यामोह ही संसार का मूल है।

अज्ञान को दूर करने का उपाय

कोई पूछता है कि अज्ञानी का वह व्यामोह किसी प्रकार हटाया भी जा सकता है या नहीं? उत्तर में कहते हैं कि हाँ, प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा उसे अवश्य छेदा जा सकता है। जैसे अंधकार को दूर करने का उपाय प्रकाश ही है; उसी प्रकार अज्ञान को दूर करने का उपाय सम्यक्ज्ञान ही है। यहाँ पर व्यामोह का अर्थ अज्ञान है और प्रज्ञारूपी छैनी का अर्थ सम्यक्ज्ञान है। हजारों उपवास करना अथवा लाखों रुपयों का दान करना इत्यादि कोई भी उपाय आत्मा संबंधी अज्ञान को दूर करने के लिये उपयुक्त नहीं है किन्तु आत्मा और राग की भिन्नता का सम्यक्ज्ञान ही व्यामोह को छेदने का एकमात्र उपाय है। इसी उपाय से व्यामोह को छेदकर आत्मा, मुक्तिमार्ग पर प्रयाण करता है।

प्रज्ञारूपी छैनी कैसे प्राप्त हो अर्थात् सम्यक्ज्ञान कैसे प्रगट हो? ज्ञान के लिये किसी न किसी अन्य साधन की आवश्यकता तो होती ही है? इसके समाधानार्थ कहते हैं कि नहीं; ज्ञान का उपाय ज्ञान ही है। ज्ञान का अभ्यास ही प्रज्ञारूपी छैनी को प्रगट करने का कारण है। भक्ति, पूजा, व्रत, उपवास, त्याग, इत्यादि का शुभराग, प्रज्ञा का उपाय नहीं है, स्वभाव की रुचि के साथ स्वभाव का अभ्यास करना ही स्वभाव का ज्ञान प्रगट करने का उपाय है।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव इस गाथा के आशय को निम्नलिखित श्लोक के द्वारा कहते हैं—

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिना सावधानः।
सूक्ष्मेऽन्तः संधिबंधे निपतति रभसादात्म कर्मो भयस्य॥
आमानं मग्नमंतः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे।
बंधं चाज्ञानभावे नियभितभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ॥१८१॥

अर्थ—यह प्रज्ञारूपी पैनीछैनी प्रवीण पुरुषों के द्वारा किसी भी प्रकार से-यत्नपूर्वक-सावधानी से (अप्रमाद भाव से) चलाई जाने पर, आत्मा और कर्म दोनों के सूक्ष्म अंतरंग सन्धि के बंध में (आंतरिक सांध के तोड़ने में) शीघ्र लगती है। वह कैसे ? सो बतलाते हैं। आत्मा को जिसका तेज अंतरंग में स्थिर और निर्मलरूप से दैदीप्यमान है, ऐसे चैतन्य प्रवाह में मग्न करती हुई और बंध को अज्ञानभाव में निश्चल करती हुई, आत्मा और बंध को सब ओर से भिन्न-भिन्न करती हुई गिरती है।

इस कलश में आत्मस्वभाव के पुरुषार्थ का वर्णन किया गया है, भेदज्ञान का उपाय दिखाया है। इस कलश के भाव विशेषत: परिणमन कराने योग्य हैं। १- पैनीछैनी, २-किसी प्रकार से, ३-निपुण पुरुषों के द्वारा, ४-सावधान हो कर चलाई जाने पर, ५- शीघ्र गिरती है-चलती है, इस प्रकार पुरुषार्थ के बतानेवाले पांच विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।

१-पैनी छैनी—जैसे जड़ शरीर में से विकारी रोग को निकालने के लिये पैने और सूक्ष्म चमकते हुए शस्त्रों से आपरेशन किया जाता है; इसी प्रकार यहाँ चैतन्य आत्मा और रागादि विकार के बीच आपरेशन करके उन दोनों को पृथक् करना है, उसके लिये तीक्ष्ण और तेज प्रज्ञारूपी छैनी है अर्थात् सम्यक्ज्ञानरूपी पर्याय अंतरंग में ढ़लकर स्वभाव में मग्न होती है और राग पृथक् हो जाता है; यही भेदविज्ञान है।

२-किसी भी प्रकार—पहले तेईसवें कलश में कहा था कि तू किसी भी प्रकार-मर कर भी तत्त्व का कौतूहली हो; उसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि किसी भी प्रकार; समस्त विश्व की परवाह न करके भी सम्यक्ज्ञानरूपी प्रज्ञा-छैनी को आत्मा और बंध के बीच डाल। 'किसी भी प्रकार' के कहने से यह बात भी उड़ा दी गई है कि कर्म इत्यादि बीच में बाधक हो सकते हैं। किसी भी प्रकार अर्थात् तू अपने में पुरुषार्थ करके प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा भेदज्ञान कर। शरीर का चाहे जो हो किन्तु आत्मा को प्राप्त करना है—यही एक कर्तव्य है, इस प्रकार तीव्र आकांक्षा और रुचि करके सम्यक्ज्ञान को प्रगट कर। यदि बिजली के प्रकाश में सुई में डोरा डालना हो तो उसमें कितनी एकाग्रता आवश्यक होती है ? उधर बिजली चमकी कि इधर सुई में डोरा डाल दिया, इसमें एक क्षणमात्र का प्रमाद नहीं चल सकता। इसीप्रकार चैतन्य में सम्यक्ज्ञानरूपी सत् को पोने के लिये चैतन्य की एकाग्रता और तीव्र आकांक्षा होनी चाहिये। अहो ! यह चैतन्य भगवान को पहिचानने का सुयोग प्राप्त हुआ है, यहाँ प्रत्येक क्षण अमूल्य है, आत्मप्रतीत के बिना उद्धार का कहीं कोई मार्ग

नहीं, इसलिये अभी ही किसी भी तरह आत्मप्रतीति कर लेनी चाहिये। इस प्रकार स्वभाव की रुचि प्रगट करने पर विकार का बल नष्ट हो जाता है। यह विकार अपने चैतन्य की शोभा नहीं किन्तु कलंक है। मेरा चैतन्य तत्त्व उससे भिन्न असंग है। इस प्रकार निरंतर स्वभाव की रुचि और पुरुषार्थ के अभ्यास के द्वारा प्रज्ञारूपी छैनी को चलाना चाहिये।

३-निपुण पुरुषों के द्वारा—यहाँ लौकिक निपुणता की बात नहीं किन्तु स्वभाव का पुरुषार्थ करने में निपुणता की बात है। लौकिक बुद्धि में निपुण होने पर भी उसे स्वयं शंका बनी रहती है कि मेरा क्या होगा? इसी प्रकार जिसे ऐसी शंका बनी रहती है कि ''तीव्र कर्म उदय में आयेंगे तो मेरा क्या होगा? यदि अभी मेरे बहुत से भव शेष होंगे तो क्या होगा? मुझे प्रतिकूलता आ गई तो क्या होगा?'' तो वह निपुण नहीं किन्तु अशक्त पुरुषार्थहीन पुरुष है। जो ऐसी पुरुषार्थहीनता की बातें करता है, वह प्रज्ञारूपी छैनी का प्रहार नहीं कर सकता; इसीलिये कहा है कि 'निपुण पुरुषों के द्वारा चलाई जाने पर' अर्थात् जिसे कर्मों के उदय का लक्ष्य नहीं किन्तु मात्र स्वभाव की प्राप्ति का ही लक्ष्य है और जिसे अपने स्वभाव की प्राप्ति के पुरुषार्थ के बल से मुक्ति की नि:संदेहता ज्ञात है—ऐसे निपुण पुरुष ही तीव्र पुरुषार्थ के द्वारा प्रज्ञारूपी छैनी को चलाकर भेदविज्ञान करते हैं।

४- सावधान होकर—अर्थात् प्रमाद और मोह को दूर करके चलानी चाहिये। यदि एक क्षण भी सावधान होकर चैतन्य का अभ्यास करे तो अवश्य ही भेदज्ञान और मोक्ष प्राप्त हो जाय। जो चैतन्य में सावधान है, उसे कर्म के उदय की शंका कदापि नहीं होती। पहले अनादिकाल से विकार को अपना स्वरूप मानकर असावधान हो रहा था, उसकी जगह अब चैतन्यस्वरूप के लक्ष्य से सावधान होकर विकार का लक्ष्य छोड़ दिया है। अर्थात् यदि अब विकार हो तो भी 'वह मेरे चैतन्य स्वरूप से भिन्न है' इस प्रकार सावधान होकर आत्मा और बंध के बीच प्रज्ञारूपी छैनी चलानी चाहिये।

'प्रज्ञारूपी छैनी चलानी चाहिये' इसका अर्थ यह है कि आत्मा में सम्यक्ज्ञान को एकाग्र करना चाहिये। यह चैतन्यस्वरूप मैं आत्मा हूँ और यह पर की ओर जानेवाली जो भावना है, सो राग है; इस प्रकार आत्मा और बंध की पृथक्त्व की संधि जानकर ज्ञान को चैतन्यस्वभावी आत्मा में एकाग्र करने पर राग का लक्ष्य छूट जाता है। यही प्रज्ञा छैनी का चलाना है।

५-प्रज्ञाछैनी शीघ्र चलती है—प्रज्ञा छैनी के चलने में विलंब नहीं लगता किन्तु जिस क्षण में चैतन्य में एकाग्र होता है, उसी क्षण राग और आत्मा भिन्नरूप से अनुभव में आते हैं। यह इस

समय नहीं हो सकता, यह बात नहीं है, क्योंकि यह तो प्रतिक्षण कभी भी हो सकता है।

प्रज्ञाछैनी के चलने पर क्या होता है अर्थात् प्रज्ञाछैनी किस प्रकार चलती है? अंतरंग में जिसका चैतन्य तेज स्थिर है, ऐसे ज्ञायकभाव को ज्ञायकरूप से प्रकाशित करता है। 'मैं ज्ञान हूँ' —ऐसा विकल्प भी अस्थिर है, इस विकल्प को तोड़कर सम्यक्ज्ञान मात्र चैतन्य में मग्न होता है; राग से पृथक् होकर ज्ञान, चैतन्य में स्थिर होता है; इस प्रकार चैतन्य में मग्न होती हुई निर्मलरूप से चलती है। और जितना पुण्य-पाप की वृत्तियों का उत्थान है, उस सबको बंधभाव में निश्चल करती है। इसप्रकार आत्मा को आत्मा में मग्न करती हुई और बंध को अज्ञानभाव में नियत करती हुई प्रज्ञाछैनी चलती है-यही पवित्र सम्यक्दर्शन है।

प्रज्ञाछैनी चलती है—इस संबंध में यहाँ क्रम से बात कही है, समझाने के लिये क्रम से कथन किया है, किन्तु वास्तव में अंतरंग में क्रम नहीं पड़ता, लेकिन एक ही साथ विकल्प टूटकर ज्ञान निज में एकाग्र हो जाता है। जिस समय ज्ञान निज में एकाग्र होता है, उसी समय राग से पृथक् हो जाता है। पहले ज्ञान स्वोन्मुख हो और फिर राग अलग हो-इसप्रकार क्रम नहीं होता।

प्रश्न—इसे समझना तो कठिन मालूम होता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई सरल मार्ग है या नहीं?

उत्तर—अरे भाई! इस दुनियादारी में बड़े-बड़े वेतन लेता है और विकटतम कार्यों के करने में अपनी बुद्धि लगाता है; वहाँ सब कुछ समझ में आ जाता है और बुद्धि खूब काम करती है, किन्तु इस अपने आत्मा की बात समझने में बुद्धि नहीं चलती; भला यह कैसे हो सकता है? स्वयं तो आत्मा की चिंता नहीं है और रुचि नहीं है, इसीलिये उसकी बात समझ में नहीं आती। इसे समझे बिना मुक्ति का अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

संसार के कार्यों में स्थान करके राग को पुष्ट करता है और जब आत्मा को समझने का प्रयत्न करने की बात आती है तो कहता है कि मेरी समझ में नहीं आता। लेकिन यह भी तो विचार कर कि तुझे किसके घर की बात समझ में नहीं आती? तू आत्मा है कि जड़ है? यदि आत्मा की समझ में यह बात नहीं आयेगी तो क्या जड़ की समझ में आयेगी? ऐसी कोई बात ही नहीं जो चैतन्य के ज्ञान में न समझी जा सकती हो। चैतन्य में सब कुछ समझने की शक्ति है। 'समझ में नहीं आ सकता' -यह बात जड़ के घर की है। जो यह कहता है कि आत्मा की बात समझ में नहीं आ सकती, उसे आत्मा के प्रति रुचि ही नहीं, प्रत्युत जड़ के प्रति रुचि है। मुक्ति का मार्ग एकमात्र सम्यक्ज्ञान है और संसार का मार्ग एक मात्र अज्ञान है।

प्रश्न—ऐसे विकट समय में यदि आत्मा की ऐसी गहन बातों के समझने में समय लगा देंगे तो फिर अपनी अजीविका और व्यवसाय कैसे चलेगा ?

उत्तर—जिसे आत्मा की रुचि नहीं है किन्तु संयोग की रुचि है, उसी के यह प्रश्न उठता है। आजीविका इत्यादि का संयोग तो पूर्वकृत पुण्य के कारण मिलता है, उस में वर्तमान पुरुषार्थ और चतुराई कार्यकारी नहीं होती। आत्मा को समझने में न तो पूर्वकृत पुण्य काम में आता है और न वर्तमान पुण्य ही, किन्तु यह तो पुरुषार्थ के द्वारा अपूर्व आंतरिक संशोधन से प्राप्त होता है, वह बाह्य संशोधन से प्राप्त नहीं हो सकता। यदि तुझे आत्मा की रुचि हो तो तू पहले यह निश्चय कर कि कोई भी परवस्तु मेरी नहीं है, परवस्तु मुझे सुख-दुःख नहीं देती, मैं पर का कुछ नहीं करता। इस प्रकार संपूर्ण पर की दृष्टि को छोड़कर निज को देख। अपनी पर्याय में राग हो तो उस राग के कारण भी परवस्तु नहीं मिलती, इसलिये राग निरर्थक है। ऐसी मान्यता के होने पर राग के प्रति का पुरुषार्थ पंगु हो जाता है। पर की क्रिया से भिन्न जान लिया, इसलिये अब अंतरंग में राग से भिन्न जानकर उस राग से पृथक् करने की क्रिया शेष रही। इस प्रकार एक मात्र ज्ञानक्रिया ही आत्मा का कर्तव्य है।

आत्मा, पर की क्रिया कर ही नहीं सकता। पर से भिन्नत्व की प्रतीति करनेवाला आत्मा ही है। प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा ही आत्मा, बंध से भिन्नरूप में पहिचाना जाता है और यह प्रज्ञाछैनी ही मोक्ष का उपाय है।

अनादि काल से जीव ने क्या किया है ? और अब उसे क्या करना चाहिये ?

अनादि काल से आज तक किसी भी क्षण में किसी जीव ने पर का कुछ किया ही नहीं, मात्र निज का लक्ष्य चूककर पर की चिंता ही की है। हे भाई ! तू अपने तत्त्व की भावना को छोड़कर पर तत्त्व की जितनी चिंता करता है, उतना ही उस चिंता का बोझा तेरे ऊपर है, उसी चिंता का तुझे दुख बना रहता है, किन्तु तेरी उस चिंता से पर का कोई कार्य नहीं बनता और तेरा अपना कार्य बिगड़ता जाता है। इसलिये हे भाई ! अनादि काल से आज तक की तेरी पर संबंधी तमाम चिंताऐं असत्य सिद्ध हुई और वे सब निष्फल गईं; इसलिये अब प्रज्ञा के द्वारा अपने भिन्न स्वरूप को जानकर उसमें एकाग्र हो। पर की चिंता करना तेरा स्वरूप नहीं।

तू पर वस्तुओं एकत्रित मानकर उनकी चिंता किया करे तो भी पर वस्तुओं का तो जो परिणमन होता है, वही होगा। और यदि तू पर वस्तुओं को भिन्न जानकर उनका लक्ष्य छोड़ दे तो भी वे तो स्वयं परिणमित होती ही रहेंगी। तेरी चिंता हो या न हो, उसके साथ पर वस्तुओं के परिणमन का कोई संबंध नहीं है।

अनादि काल से आत्मा ने पर का कुछ नहीं किया, अपने को भूलकर मात्र पर की चिंता ही की है। किन्तु हे आत्मन्! प्रारंभ से अंत तक की तेरी समस्त चिंताऐं निष्फल गई हैं; इसलिये अब तो स्वरूप की भावना कर और शरीरादिक परवस्तु की चिंता छोड़कर निज को देख। अपने को पहिचानने पर, पर की चिंता छूट जायगी और आत्मा की शांति का अनुभव होगा। तुझे अपने धर्म का संबंध आत्मा के साथ रखना है या पर के साथ? यहाँ यह बताया है कि आत्मा के धर्म का संबंध किसके साथ है।

मैं चाहे जहाँ होऊं किन्तु मेरी पर्याय का संबंध मेरी द्रव्य के साथ है, बाह्य संयोग के साथ नहीं है। चाहे जिस क्षेत्र में हो किन्तु आत्मा का धर्म तो आत्मा में से ही उत्पन्न होता है, शरीर में से या संयोग में से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। जो ऐसी स्वाधीनता की श्रद्धा और ज्ञान करता है, उसे कहाँ आत्मा के साथ संबंध नहीं होता! और जिसे ऐसी श्रद्धा तथा ज्ञान होता है, वह कहाँ शरीरादि का संबंध मानता है? स्वभाव का संबंध न टूटे और पर का संबंध कहीं न माने–बस, यही धर्म है।

एक क्षण भर का भेदज्ञान अनंत भव का नाश करके मुक्ति प्राप्त कराता है।

श्रीमद् राजचन्द्र का जन्म दिन

पूज्य सत्पुरुष श्रीमद् राजचन्द्रजी का जन्म दिन कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को आता है; इस दिन प्रसंगानुसार सोनगढ़ में प्रातःकाल आत्मसिद्धि की स्वाध्याय की गई थी। स्वाध्याय के पश्चात् पूज्य श्री कानजी स्वामी ने श्रीमद् राजचन्द्र के संबंध में संक्षिप्त विवेचन करते हुये कहा कि —श्रीमद् के जन्म को आज ८० वर्ष हो गये हैं, किन्तु उनकी आयु का योग बहुत थोड़ा था; मात्र ३३ वर्ष ५ माह में ही उनने शरीर त्याग किया था। उनका क्षयोपशम बहुत–अधिक था। वे विकास के समुद्र थे। उस समय सारे भारतवर्ष में उन जैसा प्रतिभाशाली एक ही जीव था। यदि श्रीमद् अभी तक जीवित होते–यदि उनने लम्बी आयु पाई होती तो वे बहुत काम करते–उन्होंने अपने में बहुत–बहुत किया होता.... !

श्रुत पंचमी

पूज्य श्री कानजी स्वामी का
श्रुत पंचमी पर प्रवचन

आज श्रुतपंचमी है। आज के मंगल दिवस पर (ता. ५-६-१९४६ को) श्री समयसार शास्त्र सातवीं बार समाप्त होता है और आठवीं बार प्रारम्भ किया जा रहा है। इस प्रकार आज का दिन तीन तरह से मांगलिक है।

सर्वज्ञ भगवान श्री तीर्थंकरदेव की वाणी की जो परम्परा थी, वह आज श्रुत के रूप में गूंथी गई थी। आज के दिन अंकलेश्वर में श्रुत का महामहोत्सव हुआ था। इसलिये आज का दिन श्रुतपंचमी के रूप में मनाया जाता है। सर्वज्ञ की परम्परा से श्रुत की अटूट धारा आजतक चल रही है। निर्ग्रन्थ संतमुनियों ने सत् श्रुतज्ञान को अपनी पर्याय में अटूटरूप से स्थिर रखा और उसे शास्त्र के रूप में गूँथकर महान उपकार किया है। उस श्रुत के द्वारा अंतरंगस्वभाव की संधि होती है। महान संतों ने श्रुत के द्वारा अपने स्वभाव के साथ केवलज्ञान की अटूट संधि की और बाह्य में भी श्रुत को अविच्छिन्न रखा। वह श्रुतज्ञान अविच्छिन्न रहेगा। जो परमार्थ से श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मस्वभाव को समझता है, उसके आत्मा में श्रुतज्ञान का मंगल महोत्सव मनाया जाता है। उसका आत्मा ही मंगलरूप है; और ऐसे आत्मस्वभाव को बताने वाला यह समयसार है। वह भी श्रुत है और उसका भी आज महोत्सव है। श्रुत का आशय समझ कर अपने आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करना ही अपूर्व ज्ञान का उत्सव मनाना है। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व श्री पुष्पदंत और भूतबली आचार्यों के द्वारा रचित 'षट्खंडागम' व्यवहार शास्त्र है; उनमें पर्याय की मुख्यता से कथन है और श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने जो समयसार आदि शास्त्रों की रचना की है, उनमें निश्चय की मुख्यता है। वह समयसार इस समय पढ़ा जा रहा है, जिसका अन्तिम (२७८ वाँ) कलश अभी चल रहा है।

टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने कहा है कि—यह टीका मैंने नहीं बनाई, किन्तु पुद्गल की स्वयमेव शब्दरूप में परिणमित हो गये हैं। त्रिकाल में केवली भगवान अथवा कोई भी जीव एक परमाणु मात्र को बदलने में समर्थ नहीं है; मैंने भी इस समयसार टीका की रचना नहीं की है। यही यथार्थ वस्तु स्वरूप है। यह बात मात्र नम्र प्रदर्शन के लिये कही हो, सो बात नहीं है किन्तु वस्तु स्वरूप ही ऐसा है।

ज्ञान तो मात्र जानता है, वह पर में कुछ कर्ता नहीं है। वाच्य भाव को प्रगट करनेवाले (वाचक) तो शब्द हैं, शब्द ही वाच्य को बतलाते हैं, परन्तु ज्ञान तो जाननेवाला ही है। ज्ञान का पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है किन्तु वाच्य-वाचक संबंध नहीं है। वाच्य वाचक संबंध तो वाणी और भाव का है। भाव वाच्य है और वाणी वाचक। ज्ञान दोनों को जाननेवाला ज्ञाता है।

यहाँ आचार्यदेव ने वस्तुस्वरूप को प्रगट किया है और अपनी निर्मानता प्रदर्शित की है। अज्ञानी कर्तृत्व का अभिमान करता है, तथापि वह वाणी इत्यादि का कर्ता तो निमित्तरूप से भी नहीं है, अज्ञानभाव से मात्र अहंकार का कर्ता है।

श्री समयसार की अत्यन्त अद्‌भुत टीका रची गई है तथा आचार्यदेव को ऐसा विकल्प नहीं उठा कि 'अहो! मैंने कैसी सुन्दर टीका रची है!' परन्तु वे कहते हैं कि मैं तो अपने अमृतस्वरूप में लीन हूँ, यह टीका शब्दों ने रची है और शब्द ही स्वयं उसरूप परिणमित हुये हैं।

यदि कोई कहे कि अगर ऐसा माना जाय कि आचार्य देव ने यह टीका नहीं बनाई तो आचार्य देव की कोई विनय नहीं करेगा। उसके समाधानार्थ कहते हैं कि— भाई! आचार्यदेव ने सत्य वस्तुस्वरूप ही प्रगट किया है और उस सत्य को समझने में ही आचार्य देव की सच्ची विनय है। सत्य को समझ लेने में निश्चय से अपने आत्मा की विनय है और व्यवहार से उसमें आचार्यदेव की भी विनय है। पर की विनय ही व्यवहार है। सत्य को समझे बिना विनय नहीं हो सकती।

''मैं तो ज्ञाता ही हूँ, यह टीका मैंने नहीं रची'' इस प्रकार निरभिमान होकर वस्तुस्वरूप को प्रगट करके आचार्यदेव ने पूर्णता की है। पं. जयचन्द्रजी ने उसके भावार्थ का स्पष्टीकरण करते हुये कहा है कि - श्री अमृतचन्द्र आचार्य देव के इस टीका को रचने का विकल्प उठा था तथा व्यवहार से यह टीका अमृतचन्द्राचार्य कृत कही जाती है, इसलिये उसे समझने वालों, सुनने वालों और पढ़ने वालों को उनकी विनय करनी चाहिये। जब यह टीका रची गई, तब विकल्प का निमित्त था; उस विकल्प की उपस्थिति का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार से यह भी कहा जा सकता है कि अमुक कार्य अमुक व्यक्ति ने किया है। इस न्याय के अनुसार यह टीका भी श्री अमृतचन्द्राचार्य देव कृत ही है, ऐसा व्यवहार से कहा जा सकता है, इसलिये समयसार का पठन, पाठन और श्रवण करने वालों को उनका उपकार मानना उचित है। नैमित्तिक कार्य होते समय उपस्थित निमित्त में आरोप आता है। जब इस समयसार की टीका हुई, तब श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव के विकल्प की उपस्थिति थी; इसलिये यह आरोप हुआ कि श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने यह टीका रची है; किन्तु

वास्तव में टीका की रचना करने का जो विकल्प उत्पन्न हुआ, उसका कर्तृत्व भी उनके नहीं है; तब फिर वे जड़ शब्दों के कर्ता कैसे हो सकते हैं ? तथापि जब विनय-बहुमान करना होता है, तब अमृतचंद्राचार्यदेव को ही व्यवहार से कर्ता कहकर उनका विनय-सत्कार करना उचित है।

इस महाशास्त्र के पठन-पाठन, श्रवण-मनन से पारमार्थिक आत्मा की प्राप्ति होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है। परमार्थ से जो स्वयं आत्मा में सम्यग्दर्शनादि प्रकट करते हैं, उनके लिये उपचार से यह कहा जाता है कि 'इस शास्त्र के द्वारा पारमार्थिक आत्मा की प्राप्ति हुई है' शास्त्र तो निमित्त है। परन्तु स्वयं परमार्थ स्वरूप को समझे बिना चाहे जितने वर्ष तक पढ़ता रहे, तथापि सच्चा ज्ञान नहीं होता। परन्तु जो पारमार्थिक स्वभाव को समझते हैं, उन्हें सत्शास्त्र निमित्त होता है, इसलिये इस परमागम ग्रंथ का निरन्तर अभ्यास श्रवण, मनन करना चाहिये।

इस शास्त्र में गंभीर रहस्य निहित हैं, इन्हें गुरुगम के बिना नहीं समझा जा सकता। पं. जयचन्द्रजी कहते हैं कि 'इस ग्रन्थ के गुरु सम्प्रदाय (गुरु परम्परा) को व्युच्छेद हो गया है'; यह कथन डेढ़ सौ बरस पहले का है, परन्तु अब वह व्युच्छेद पुनः अटूट रूप से जुड़ गया है, गुरु परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है। सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि के लाभ से और भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की कृपा से तथा अपनी पात्रता से मुमुक्षु जीवों के महाभाग्य से यह समयसार की परम्परा चालू हुई है और आचार्यदेव का आशय यथावत् सुरक्षित है। इस प्रकार श्रुतधारा अविच्छिन्न है, सम्यग्ज्ञान जयवन्त होकर विद्यमान है। इस प्रकार श्री समयसार शास्त्र का पूर्ण मंगल हुआ।

श्रुतपंचमी के सम्बन्ध में

आज श्रुतपंचमी का दिन है और इस समयसार के द्वारा श्रुत परम्परा अविच्छिन्न चल रही है। आज के-ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन श्री पुष्पदन्त और भूतबली आचार्यों को अपार श्रुतज्ञान के प्रति अपूर्व आह्लाद उत्पन्न हुआ था और उनने हर्ष एवं उत्साहपूर्वक श्रुत की प्रतिष्ठा की थी। उन्हें श्री धरेसनाचार्य से जो अविच्छिन्न श्रुतज्ञान प्राप्त हुआ था, उसकी शास्त्र के रूप में रचना की थी और उस रचना के पूर्ण होने पर श्रुत के प्रति अपार भक्ति होने से आज के दिन उत्साहपूर्वक उसकी पूजा की थी। अंतरंग में तो श्रुतज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप की अविच्छिन्न संधि की है, जो पवित्र श्रुतज्ञान प्रगट हुआ है, वह अटूट रहे और उस अविच्छिन्न धारा से केवलज्ञान प्रकट हो—ऐसी भावना है और ऐसा विकल्प उठा है कि बाह्य में श्रुत की अविच्छिन्न परम्परा बनी रहे।

सौराष्ट्र देश में गिरनार पर्वत को चन्द्र गुफा में महामुनि श्री धरसेनाचार्यदेव बिराजते थे, वे अंग-पूर्व के एक देश ज्ञाता थे। अल्पायु शेष रहने पर उनके मन में एक बार यह विकल्प उठा कि अब कोई अंग-पूर्व का ज्ञाता नहीं है, इसलिये अब अंग-श्रुत का व्युच्छेद हो जायगा, साथ ही उनके मन में श्रुत को अविच्छिन्न रखने की भावना उत्पन्न हुई, इसलिये उनने दक्षिण से दो मुनियों को बुलाया। जब वे दो मुनि आ रहे थे, तब श्री धरसेन मुनि को स्वप्न हुआ कि अत्यन्त शुभ दो बैल मेरे चरणों में विनयपूर्वक नमन कर रहे हैं। इस शुभ स्वप्न को देख कर वे संतुष्ट हुये और उत्साह में आकर बोल उठे कि —'श्रुतज्ञान की जय हो'।

उसी दिन वे दोनों मुनि आ पहुँचे और उन्होंने वंदना करके विनयपूर्वक आज्ञा मांगी। श्री धरसेनाचार्यदेव ने उनकी परीक्षा ली और संतुष्ट होकर उन्हें सर्वज्ञ परम्परा से समागत श्रुतज्ञान दिया। उन दोनों मुनियों के नाम श्री भूतबलि और पुष्पदन्ताचार्य थे। तत्पश्चात् उन दोनों आचार्यों ने श्री षट्खण्डागम की रचना की और श्रुतप्रवाह अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रखा।

इस प्रकार षट्खण्डागम की रचना को पुस्तकारूढ़ करके ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन चतुर्विध संघ के साथ श्री भूतबलि आचार्य ने उत्साहपूर्वक श्रुत की पूजा की थी। इसीलिये श्रुतपंचमी के दिन आज भी जैन लोग श्रुत की आराधना करते हैं।

इस प्रकार शासन के स्तम्भ महान आचार्यों ने दिव्यध्वनि के महाप्रवाह को ज्यों का त्यों प्रवाहित रखा है। दिव्य श्रुतज्ञान के प्रवाह को अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने में यह सौराष्ट्र देश भी कारण है।

['यह षट्खण्डागम शास्त्र मूड़बिद्री नगर में ताड़पत्रों पर लिखित सुरक्षित थे और अब शासन के महाभाग्य से वे परमागम टीका और हिन्दी अनुवाद सहित मुद्रित हो रहे हैं। अभी तक उनके सात-आठ खंड मुद्रित हो चुके हैं।]

जिस श्रुत के द्वारा आत्मप्रतीत करके एकावतारी हुआ जा सकता है, वह श्रुत आज भी जयवंत विद्यमान हैं।

आज यह समयसार आठवीं बार पढ़ा जा रहा है—सभा में प्रवचनरूप से यह आठवीं बार पढ़ा जा रहा है, फिर भी यह कुछ अधिक नहीं है। इस समयसार में ऐसा गूढ़ रहस्य भरा हुआ है कि यदि इसके भावों को जीवन भर मनन किया जाय तो भी इसके भाव पूरे प्राप्त नहीं किये जा सकते। केवलज्ञान होने पर ही समयसार के भाव पूरे हो सकते हैं। समयसार के भाव का आशय समझकर

एकावतारी हुआ जा सकता है। समयसार में ऐसे महान भाव भरे हुये हैं कि श्रुतकेवली भी अपनी वाणी के द्वारा विवेचन करके उसके सम्पूर्ण सार को नहीं कह सकते। यह ग्रंथाधिराज है, इसमें ब्रह्माण्ड के भाव भरे हुये हैं। इसके अंतरंग के आशय को समझकर शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता के द्वारा अपने समयसार की पूर्णता की जा सकती है; भले ही वर्तमान में विशेष पहलुओं से जानने का विच्छेद हो परन्तु यथार्थ तत्त्वज्ञान को समझने योग्य ज्ञान का विच्छेद नहीं है। तत्त्व को समझने की शक्ति अभी भी है। जो यथार्थ तत्त्वज्ञान करता है, उसे एकावतारीपन का नि:संदेह निर्णय हो सकता है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने महान उपकार किया है। यह समयसार शास्त्र इस काल में भव्य जीवों का महान आधार है। लोग क्रियाकांडी और व्यवहार के पक्षपाती हैं, तत्त्व का वियोग हो रहा है, और निश्चयस्वभाव का अन्तर्धान हो गया है—वह ढंक गया है; तब यह समयसार शुद्धात्मतत्त्व को बतलाकर तत्त्व के वियोग को भुला देता है और निश्चय स्वभाव को प्रगट करता है।

समयसार का प्रारम्भ करते हुये श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने प्रारम्भिक मंगलाचरण में कहा है कि —'वंदितुसव्व सिद्धे' अनन्त सिद्ध भगवन्तों को वंदना करता हूँ; सब कुछ भूलकर अपने आत्मा में सिद्धत्व को स्थापित करता हूँ। इस प्रकार सिद्धत्व का ही आदर किया है। जो जिसकी वंदना करता है, उसे अपनी दृष्टि में आदर हुये बिना यथार्थ वन्दना नहीं हो सकती।

अनन्त सिद्ध हो चुके हैं, पहले सिद्ध दशा नहीं थी और फिर उसे प्रगट किया, द्रव्य ज्यों का त्यों स्थिर रहा, पर्याय बदल गई; इस प्रकार सब लक्ष्य में लेकर अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है—अपनी सिद्धदशा की ओर प्रस्थान किया है। मैं अपने आत्मा में इस समय प्रस्थान-चिह्न स्थापित करता हूँ और मानता हूँ कि मैं सिद्ध हूँ-अल्प काल में सिद्ध होनेवाला हूँ; यह प्रस्थान-चिह्न अब नहीं उठ सकता; मैं सिद्ध हूँ—ऐसी श्रद्धा के जम जाने पर आत्मा में से विकार का नाश होकर सिद्ध भाव ही रह जाता है। अब सिद्ध के अतिरिक्त अन्य भावों का आदर नहीं है-यह सुनकर हाँ कहनेवाला भी सिद्ध है। मैं सिद्ध हूँ और तू भी सिद्ध है-इस प्रकार आचार्य देव ने सिद्धत्व से ही मांगलिक प्रारम्भ किया है।

[इस प्रकार श्री समयसारजी के आठवीं बार पठन का यह प्रारम्भिक महामांगलिक पूर्ण हुआ] ●●

अष्टाह्निका महोत्सव

सोनगढ़ में कार्तिक शुक्ला ८ से १५ तक अष्टाह्निका महोत्सव बहुत उत्साह पूर्वक मनाया गया था। मध्यलोक में विद्यमान समस्त (४५८) अकृत्रिम-शाश्वत् जिनालयों का एक सुन्दर मांडना (मण्डल) बनाया गया था; जिसमें नंदीश्वर जाकर भक्ति करते हुये देव भी दिखाये गये थे। इन आठ दिनों में मध्यलोक के समस्त अकृत्रिम जिनालयों की पूजा की गई थी। पूर्णिमा के दिन पूजन के पश्चात् इन्द्रों ने गाजे बाजे के साथ भगवान श्री सीमंधर स्वामी का अभिषेक किया था। भक्त मण्डल में बहुत उत्साह था।

पौष मास के मंगल दिन

पौष कृष्णा ८ : शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को 'शासन रक्षक' का पवित्र पद प्राप्ति का मंगल दिन।

आत्मधर्म कार्यालय

मोटा आंकड़िया : काठियावाड़

माननीय व्यवस्थापकजी,
दिगम्बर जैन मन्दिर

आपके पास आत्मधर्म का एक अंक भेजा जा चुका है। उसे आपने पढ़ा होगा और अन्य स्वाध्यायप्रेमी भाई-बहिनों ने भी उसके आध्यात्मिक लेखों की स्वाध्याय की होगी। एक अंक और भेजा जा रहा है। क्या आप यह सूचित करने की कृपा करेंगे कि 'आत्मधर्म' किन भाई-बहिनों को रुचा है, और कौन इसके ग्राहक होना चाहते हैं ?

कम से कम मंदिरजी के लिये तो यह आध्यात्मिक पत्र एक वर्ष के लिये अवश्य मंगाइये। वार्षिक मूल्य तीन रुपया है। यदि आप सूचित करें तो वी०पी० द्वारा एक वर्ष का मूल्य मंगवा लिया जाय; किन्तु इसमें आपको छह आने व्यर्थ ही अधिक लग जायेंगे। इसलिये अच्छा यही है कि आप ऊपर के पते पर ३) मनिआर्डर द्वारा भेज दें, और अपने नगर के जैनों को शुद्ध आध्यात्मिकता का लाभ लेने में सहायक हों।

जमनादास रवाणी

बाल-विभाग

बाल पाठकों से!

धर्मप्रेमी बालकों!

तुम्हें यह जानकर बहुत हर्ष होगा कि अब आत्मधर्म के प्रत्येक अंक में तुम्हारे लिये 'बाल-विभाग' रहा करेगा। इस विभाग में ऐसी सामग्री रहा करेगी जिसे तुम सरलता पूर्वक समझ सकोगे और जिसे पढ़कर तुम्हें आनन्द मिलेगा। प्रतिमास तुम अपने इस विभाग को पढ़ना और समझने का प्रयत्न करना।

क्या तुम जानते हो ?

१—कुन्दकुन्दाचार्य

एक बालक था, जिसे आत्मा का अच्छा ज्ञान था। वह धर्मात्मा था, और साथ ही वैरागी भी। मात्र ११ वर्ष की आयु में ही उसने जिनदीक्षा ले ली थी। वह बालक से मुनिराज हो गया। उसका नाम 'कुन्दकुन्द!' उन्हें आज हम 'श्री कुन्दकुन्दाचार्य' के नाम से पूजते हैं।

वे एक बार विदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान के पास जाकर उनके दर्शन कर आये थे। उन्हीं ने 'समयसार' शास्त्र की रचना की थी। वे बहुत ही पवित्र थे। कुछ समय के बाद वे मोक्ष प्राप्त करेंगे।

२— श्रीमद् राजचन्द्र

काठियावाड़ में 'ववाणिया' नामक एक गाँव है। वहाँ सात वर्ष का एक बालक रहता था। वह अत्यन्त बुद्धिशाली और विरक्त था। एक बार उसके गाँव में कोई आदमी मर गया, जिसके शरीर को जलाने के लिये लोग श्मशान भूमि में ले गये। बालक वहाँ पहुँचकर एक वृक्ष पर चढ़कर चुपचाप सब देखने लगा। मृत शरीर को जलता हुआ देखकर बालक के मन में विचार आया कि जीव और शरीर अलग-अलग हैं, इसका जीव चला गया है; इसलिये शरीर जलाया जा रहा है; जीव तो पहले कहीं से आया था और अब कहीं चला गया है। इस प्रकार गहराई से विचार करते-

करते उसे यह मालूम हो गया कि अपना आत्मा पहले कहाँ था! उस समय बालक की आयु मात्र ७ वर्ष की थी, तब उसे 'जातिस्मरण-ज्ञान हो गया।

इस बालक का नाम था 'राजचन्द्र!' वह ज्यों-ज्यों बड़े हुये त्यों-त्यों आत्मप्रतीति होती गई! वह निकट भविष्य में मोक्ष को प्राप्त होंगे। श्रीमद् राजचन्द्र ने 'आत्मसिद्धि' शास्त्र की रचना की थी। १६ वर्ष की आयु में ही उनने 'मोक्षमाला' नामक ग्रंथ लिखा था, जो कि विशेषत: बालकों के लिये है।

क्या तुम बताओगे ?

बालकों! तुम्हें तत्त्वज्ञान का लाभ हो, इस दृष्टि से यहाँ तीन प्रश्न पूछे जा रहे हैं; इनका उत्तर किसकी की भी सहायता लिये बिना स्वयं सोचकर लिख भेजो।

(१) पंच परमेष्ठी के नाम लिखकर यह बताओ कि इनमें से कौन-कौन देव हैं? कौन गुरु हैं? और कौन शास्त्र हैं?

(२) ऐसी सर्वोच्च तीन वस्तुयें कौन सी हैं जिनसे अवश्य मोक्ष मिल जाय?

(३) नीचे लिखी हुई वस्तुओं में से तुम्हें सब से अधिक कौन सी वस्तु अधिक अच्छी लगती है?

सोने का समयसार, भगवान की रत्न की मूर्ति, सम्यग्दर्शन, सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का राज्य।

मगसिर शुक्ला १५ तक जिनके सही उत्तर आ जायेंगे, उनमें से सर्व प्रथम ८ को एक पुस्तक भेंट में दी जायगी। उत्तर १४ वर्ष तक के बालक ही भेजें।

उत्तर एक कार्ड पर लिखकर नीचे लिखे हुये पते पर भेजना चाहिये, साथ ही अपना पूरा पता भी अवश्य लिखें—

संपादक,

आत्मधर्म-बाल विभाग

जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ (काठियावाड़)

बाल-स्वाध्याय

[१]

मैं एक जीव हूँ।
यह एक पुस्तक है।
मैं पुस्तक को जानता हूँ।
पुस्तक मुझे नहीं जानती।
मैं शरीर को जानता हूँ।
शरीर मुझे नहीं जानता।

[२]

मैं जीव हूँ।
मुझ में जानने का गुण है।
इसलिये मैं सब को जानता हूँ।
यह पुस्तक अजीव है।
इसमें जानने का गुण नहीं है।
यह किसी को नहीं जानती।

[३]

जानने के गुण को ज्ञान गुण कहते हैं।
जिस में ज्ञान है, वह जीव है।
जिस में ज्ञान नहीं है, वह अजीव है।
जैसे डिब्बे में गुड होता है वैसा जीव में ज्ञान रखा हुआ नहीं है।
किन्तु, जैसे गुड़ में मिठास है वैसे ही जीव में ज्ञान है।

[४]

मुझ में ज्ञान है,
इसलिये मैं जीव हूँ।
गुड़ में मिठास एकरूप है,
उसी प्रकार मुझ में ज्ञान एकरूप है।
पुस्तक में ज्ञान नहीं है,
इसलिये वह अजीव है।
अजीव को जड़ भी कहते हैं।

[५]

जो ज्ञान में है सो मैं हूँ।
जो पुस्तक है सो मैं नहीं हूँ।
जो शरीर है सो मैं नहीं हूँ।
पुस्तक अजीव है, वैसे ही शरीर भी अजीव है।
इस जगत में दो प्रकार की वस्तुयें हैं; एक जीव और दूसरा अजीव। जिसमें ज्ञान हो वह जीव कहलाता है और जिसमें ज्ञान नहीं होता वह अजीव कहलाता है।

[६]

जीव की अपनी विपरीत समझ ही दु:ख है।
जीव की अपनी यथार्थ समझ ही सुख है।
जो समझ है सो ज्ञान है।
अजीव के सुख-दु:ख नहीं होता।
शरीर अजीव है, इसलिये उसे सुख-दु:ख नहीं होता।

[७]

पुस्तक मुझसे भिन्न है।
इसी प्रकार शरीर मुझसे भिन्न है।
मैं जीव हूँ।
शरीर जड़ है-अजीव है।
मैं जीव हूँ, इसलिये जानता हूँ।
शरीर अजीव है-जड़ है, इसलिये जानता नहीं है।

बालक की भावना

हम हैं जिनशासन के बाल,
हमें पढ़ना है जैन सिद्धांत !.... हम हैं०
पढ़ना लिखना हमको प्यारा,
गुरुजी पर है प्यार;
प्यार हमारे साधर्मी पर,
प्यारी हसारी चाल !.... हम हैं०
पढ़ लिखकर के बड़े बनेंगे,
करेंगे आतम-काज,
यह उपकार गुरुजी का है;
वन्दन बारम्बार !.... हम हैं०

—सूचना—

पं. परमेष्ठीदास जैन १ दिसम्बर को यहाँ आ गये हैं। अब उनका पता यह रहेगा—
अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया (काठियावाड़)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, ता.०९-१२-४७